आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी समारोह

[दीपावली, १९८७ ई० से महावीर जयन्ती, १९८९ ई० तक]

इस रूप मे अवश्य मनाइये –

- कुन्दकुन्द ज्ञानचक्र का प्रवर्तन ।
- कुन्दकुन्द नेशनल लाइब्रेरी ऑफ जेनिज्म की स्थापना ।
- विभिन्न समारोहो का आयोजन ।
- जैन (शिक्षण) पत्राचार पाठ्यक्रम योजना ।
- सेमीनारो का आयोजन ।
- कुन्दकुन्द साहित्य का प्रकाशन ।
- प्राकृत भाषा शिविर का आयोजन ।
- विद्वानो द्वारा कुन्दकुन्द सम्बन्धी साहित्य पर कार्य कराना तथा प्रकाशित कराना ।
- स्मारिका प्रकाशन ।
- युवको मे चारित्र-निर्माण अभियान ।
- शिक्षण-शिविरो का आयोजन करे ।
- कुन्दकुन्द रचित ग्रन्थो की मूलगाथा के अखण्ड पाठ आयोजित करे ।
- निकटवर्ती तीर्थस्थलो तक पदयात्रा का आयोजन करे ।
- आध्यात्मिक गोष्ठियो का आयोजन करे ।
- निबन्ध प्रतियोगिताओ का आयोजन करे ।
- वाद-विवाद प्रतियोगिताओ का आयोजन करे ।
- गाथा-पाठ प्रतियोगिताओ का आयोजन करे ।
- कुन्दकुन्द साहित्य का विक्रय करे ।

मोहन-जो-दड़ो :
जैन परम्परा और प्रमाण

एलाचार्य मुनि विद्यानन्द

प्रकाशक
कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली

प्रथम आवृत्ति दिसम्बर, १९८६
द्वितीय आवृत्ति जनवरी, १९८८

सम्पादन . डॉ० नेमीचन्द जैन
आकल्पन संतोष जड़िया

प्राप्तिस्थान
कुन्दकुन्द भारती
१८-बी, स्पेशल इस्टीट्यूशनल एरिया
नई दिल्ली-११००६७

मूल्य: सात रुपये

श्री सोहनलाल जैन
जयपुर प्रिण्टर्स, एम आई. रोड, जयपुर
द्वारा प्रचार व प्रसार हेतु मुद्रित

आमुख

मोहन-जो-दडो[1] का अर्थ है 'मृतको का टीला'। पुरातात्त्विक महत्त्व का यह स्थान पाकिस्तान के लरकाना जिले (सिन्ध) मे स्थित है।[2] इसके उत्खनन का कार्य १६२२-२७ ई० के मध्य सरकार के पुरातात्त्विक सर्वेक्षण विभाग ने सम्पन्न किया था।[3] खुदाई मे जो सीले प्राप्त हुई है उनसे जैन सस्कृति की प्राचीनता असदिग्ध और स्पष्ट बनती है। प्राप्त तथ्यो तथा निष्कर्षों का भारत के प्राचीन इतिहास की धारणा पर भी अचूक प्रभाव पडा है। अब तक ऋग्वेद को ही भारतीय सस्कृति/सभ्यता का अन्तिम बिन्दु माना जाता था, किन्तु सिन्धुघाटी की सस्कृति से सम्बन्धित छानबीन से हमारा ध्यान प्राग्वैदिक भारत की ओर भी बरबस गया है।[4] यह प्रश्न सहज ही उठता है कि सिन्धुघाटी के निवासी कौन थे ? उनकी धार्मिक आस्थाएँ क्या थी ? क्या मोहन-जो-दडो के तत्कालीन सास्कृतिक मानचित्र पर जैनो की कोई स्थिति थी ? क्या जो तथ्य सामने आये हैं उनके कारण ऋग्वेद को भारतीय सस्कृति का प्रथम छोर मानना अब भी सभव है ? क्या आरण्यक सस्कृति को एक सिरा मान लेने पर दूसरा सिरा सिन्धुघाटी तक विस्तृत नही हो जाएगा ? तथ्यो की इस समीक्षा से यह सिद्ध होता है कि जैनधर्म प्राग्वैदिक है और भारत मे योग-परम्परा का प्रवर्तक है।[5]

अब तक यह माना जाता रहा है कि हमारे देश की प्राचीनता ऋग्वेद से पीछे सभवत लौट नही सकती, किन्तु जो सबूत मोहन-जो-दडो के उत्खनन मे मिले है उनसे यह प्रमाणित हो गया है कि भारत की सस्कृति काफी प्राचीन है, अत 'प्राचीनता के इस तथ्य' को 'खुदाई मे मिले तथ्यो' के समानान्तर वाङ्मयिक परम्पराओ मे भी ढूँढा जाना चाहिये। प्रस्तुत पुस्तिका मे इस दिशा मे एक ठोस प्रयास किया गया है। मोहन-जो-दडो से जो एक सील मिली है[6] उससे जैन सस्कृति के सम्बन्ध मे कई धमिलताएँ स्पष्ट हुई है और इस नये उजाले मे हम कई ऐतिहासिक गुत्थियो को खोल सके है। अब तक कहा जाता रहा है कि जैनधर्म वेदो के समय प्रवर्तित या पुनरुज्जीवित हुआ; किन्तु मोहन-जो-दडो की खुदाई ने यह सिद्ध

कर चकित किया है कि जैन संस्कृति पुरातथ्यो की कसौटी पर कम-से-कम ५००० वर्ष (३२५० ई०पू०) पुरानी तो है ही। मोहन-जो-दडो की सीलो पर योगियो की जो काउस्सग्ग (कायोत्सर्ग) दिगम्बर मुद्राएँ* 'अंकित हैं उनसे उक्त स्थापना और दृढ हुई है। मोहन-जो-दडो के उत्खनन से जो निष्कर्ष सामने आये है वे इस प्रकार हैं –

लता-मण्डप वेष्टित भगवान् बाहुबली [देखिये, परिशिष्ट १, टिप्पणी ६]

१ जैनो के प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ अध्यात्म (आत्मविद्या) के आदिप्रवर्तक है। यह तथ्य मोहन-जो-दडो की सीलो से प्रमाणित होता है।[८]

२ योगविद्या का प्रवर्तन क्षत्रियो ने किया। ब्राह्मणो ने इसे उन्ही से सीखा।

३ मोहन-जो-दडो की संस्कृति मे महायोगी ऋषभनाथ की बहुत प्रतिष्ठा थी, यही कारण है कि सीलो पर जहाँ एक ओर उनकी कायोत्सर्ग-मग्न नग्न मुद्रा मिलती है, वही उनका लाछन बैल भी अपने समानुपातिक सौदर्य मे यत्र-तत्र दिखायी देता है।[९]

४ खुदाई मे जो सीले मिली है उनसे योग-परम्परा के और अधिक प्राचीन होने की सभावना पुष्ट होती है। इनसे हम इस निष्कर्ष पर भी पहुँचते है कि उस युग मे जैन मूर्तिशिल्प का भी काफी विकास हो चुका था। दिगम्बर मुनियो की कैसी मुद्रा हो, उनके चतुर्दिक् कैसा वातावरण अंकित किया जाए, ऐसे कौन से प्रतीक हो सकते है जिन्हे चित्रित करने से उनकी गरिमा का बोध हो, इत्यादि पर भी काफी गम्भीरता से विचार हुआ था। वृषभ, सिह, महिष, गज, गैडा आदि प्राणियो की शरीर-रचना[१०] का भी अध्ययन उस समय के कला-शिल्पियो को था। सीलो मे जो सयोजन (कम्पोजिशन) है, वह सामान्य नही है अपितु एक दीर्घकालिक परम्परा का द्योतक है। यदि हमारे पुरातत्त्वविद् इन सीलो की गहन समीक्षा करते है तो जैन शिल्प के इतिहास/प्रागैतिहास मे एक नया अध्याय खोला जा सकता है।

५ निर्विवाद है कि मोहन-जो-दडो की संस्कृति मे प्राग्वैदिक संस्कृति के ऐसे अवशेष मिले है, जिनसे जैनो की प्राचीनता पुष्ट होती है। श्री रामप्रसाद चन्दा[११] तथा श्री ऐरावत महादेवन्[१२]

यह मूर्ति भी कायोत्सर्ग मुद्रा में है परन्तु इसके शिरोभाग पर कोई प्रतीक नही है। यह भी उसी महराब (आर्च) मे स्थित है, अर्थात् मूर्ति सीधी खडी है और दोनो हाथ बराबर मे दोनो ओर लटक रहे है। सर जॉन मार्शल ने इस आर्च को एक वक्ष निरूपित किया है। [देखिये, परिशिष्ट १, टिप्पणी ३]

ने तथ्यों की जो प्रगल्भ समीक्षा की है उससे यह स्पष्ट हो गया है कि सिन्धुघाटी-सस्कृति मे जैनो को एक विशिष्ट सामाजिक दर्जा प्राप्त था और उन्हे घाटी से सबद्ध राष्ट्रकुल (कॉमनवेल्थ) मे एक सुप्रतिष्ठित स्थान मिला हुआ था। उनकी वित्तीय साख थी तथा व्यापार-जगत् मे उन्हे बहुत सम्मान के साथ देखा जाता था।

६ प्रस्तुत लघु पुस्तिका मे हम जिस सील की विवेचना करने जा रहे है वह उत्खनन के तथ्यो पर आधारित तो है ही, साथ ही जैनवाङ्मय मे प्राप्त परम्परा से भी समर्थित है। जब इतिहास को लोकश्रुति और परम्परा का बल मिल जाता है, तब वह इतना असदिग्ध और अकाट्य हो जाता है कि फिर उसकी अस्वीकृति लगभग असभव ही होती है। इतिहास विवरणो से बनता है, लोक-श्रुतियाँ लोकमानस मे पकती हैं, और परम्पराएँ साहित्य और भाषा के तल से प्रकट होती है। आचार्य जिनसेन के 'आदिपुराण' मे जो श्लोक[13] उपलब्ध है उससे यह तथ्य बहुत स्पष्ट हो जाता है कि मोहन-जो-दडो की पूरी पट्टी पर क्रियाकाण्ड की अपेक्षा 'अध्यात्म की सस्कृति' अधिक प्रभावी थी। सीलो मे जो प्रतीक मिलते हैं उनसे भी तत्कालीन लोकमानस/लोकाभिरुचियो का अनुमान लगता है। त्रिशूल, वृषभ, छह अराओ वाला कालचक्र[14], कल्पवृक्ष-वेष्टित कायोत्सर्ग-प्रतिमाएँ इत्यादि भी महत्त्वपूर्ण है।

७ श्री महादेवन् ने यह साफ-साफ माना है कि मोहन-जो-दडो के सास्कृतिक विघटन के समय जैनो का जो व्यापारिक विस्तार था उससे भी जैन सस्कृति का एक स्पष्ट परिदृश्य हमारे सामने आता है। उनका कथन है कि उस समय जैन व्यापारियो का मोहन-जो-दडो के राष्ट्रकुल मे एक प्रतिष्ठित स्थान था और उनकी साख दूर-दूर तक थी। उनकी हुडियाँ पूरे राष्ट्रकुल मे सिकरती थी। आज से सौ साल पहले तक देश मे ऐसी हुडियो का काफी प्रचलन था।[15] इनकी एक स्वतन्त्र लिपि थी।[16] कुछ कूट-चिह्न भी थे। जो सीले मोहन-जो-दडो मे मिली है, सभव है उनमे से बहुतेरी जैन व्यापारियो से सबद्ध हो – महादेवन् की इस उपपत्ति पर भी विचार किया जाना चाहिये।

८ यह स्थापना भी काफी सार्थक दिखायी देती है कि मोहन-जो-दडो की सस्कृति से जैन अध्यात्म और दर्शन सबद्ध रहे हैं, तथा उस समय भी सम्पूर्ण देश के व्यापार की बागडोर जैनो

के हाथ मे थी। जैनो का व्यापार-तन्त्र, शैली, और प्रशासन बिलकुल जुदा थे।

आश्चर्य तो यह है कि जैनधर्म की प्राचीनता के जो सकेत आज से लगभग ६० वर्ष पूर्व मिले थे, उन पर आगे कोई काम नही हुआ। वह सूत्र/वह कदम जहाँ-का-तहाँ, ज्यो-का-त्यो उठा रह गया। श्री रामप्रसाद चदा का लेख 'मॉडर्न रिव्यू' के अगस्त, १९३२ के अक मे प्रकाशित हुआ था तथा श्री महादेवन् के शोध-निष्कर्ष पर श्री एस बी राय की समीक्षा 'सडे स्टैंडर्ड' के १९ अगस्त, १९७९ के अक मे प्रकाशित हुई थी। दोनो मे मोहन-जो-दडो मे जैनत्व के होने की सूचनाएं हैं, किन्तु इतने वर्षो बाद भी किसी जैन पुरातत्त्वविद् ने इस स्थापना को आगे नही बढाया, पल्लवित नही किया। ऐसे समय जबकि मोहन-जो-दडो की लिपि को पढने (डिसाइफर करने) के कई सार्थक प्रयत्न हो चुके है, जैन इतिहास-वेत्ता/पुरातत्त्वविज्ञ यदि उन सारे स्रोतो का दोहन नही करते, जो जैन सस्कृति को विश्व की प्राचीनतम सस्कृति सिद्ध कर सकते है, तो यह हमारा दुर्भाग्य ही है। हमारी राय मे मोहन-जो-दडो सस्कृति मे अध्यात्म और योग, शिल्प और व्यापार का जो रूप उपलब्ध है उस पर गभीरतापूर्वक विचार किया जाना चाहिये। उन सारी उपपत्तियो का भी सावधानीपूर्वक परीक्षण होना चाहिये जो जैन योग की परम्परा को सुसमृद्ध ठहराती है।

प्रयत्न किया जाना चाहिये कि जैन ग्रन्थो मे जहाँ भी इस परम्परा की अभिव्यक्ति हुई है, उसे वहाँ से उठा कर सबके सामने रखा जाए। जैनो का लोक-सस्कृति के विकास मे जो अवदान है, उसकी भी पूर्वाग्रहमुक्त विवृत्ति होनी चाहिये। प्रश्न शायद यह नही है कि मोहन-जो-दडो की प्राचीन सस्कृति को किस आस्था या विश्वास, धर्म या दर्शन से जोडा जाए बल्कि इस तथ्य को कसौटी पर कसा जाना चाहिये कि मोहन-जो-दडो के उत्खनन मे जो सामग्री प्राप्त हुई है, उसका जैन वाङ्मय मे कहाँ-कैसा उल्लेख हुआ है और उसका जैन इतिहास से क्या सम्बन्ध है? हमारी राय मे प्राप्त तथ्यो को इन कसौटियो पर अवश्य देखा जाना चाहिये —

१. भगवान् ऋषभनाथ[१७] के जो पर्याय शब्द मिलते है वे कितने है और उनका मोहन-जो-दडो की सस्कृति से क्या तालमेल है? प्रजापति, पशुपतिनाथ, ब्रह्म, ब्रह्मा तथा अथर्वन्, ब्राह्मी, वृषभ

आदि शब्द क्या जैन संस्कृति से किसी तरह सम्बन्धित हैं ? यदि इनका कोई सम्बन्ध है तो वह क्या है और समय ने उसे इस तरह धुंधला क्यों कर दिया है ? क्या हम इस धुन्ध को हटा सकते हैं ?

२ योग की जो परम्परा ग्राज उपलब्ध है, उसका जैन-योग मे कितना सम्बन्ध है ? क्या योगियो की जो पर्यक/कायोत्सर्ग मुद्राएँ मोहन-जो-दडो की सीलो पर ग्रकित है, उनका विवरण जैन ग्रन्थो मे कही हुआ है ? अर्धोन्मीलित नेत्र तथा नासिकाग्र दृष्टि क्या जैन मुनियो की ध्यान/तपोमुद्रा से सम्बन्धित नही हैं ? इस दृष्टि से भी तथ्यो की विवेचना की जानी चाहिये ।

३ 'कायोत्सर्ग (काउस्सग्ग)' जैनो का अपना पारिभाषिक शब्द है । यह जिस ध्यानमुद्रा का प्रतीक है, वह जैन मुनियो की विशिष्ट तपोमुद्रा है । इस दृष्टि से भी तथ्यो की छानबीन की जानी चाहिये ।

४ जैन प्रतिमा-विज्ञान (ग्राइकोनोग्राफी) की दृष्टि से भी मोहन-जो-दडो की प्रतिमाकृतियो का विश्लेषण किया जाना चाहिये । देखा जाना चाहिये कि क्या परम्परा से चली ग्रा रही जैन प्रतिमाग्रो मे ग्रौर मोहन-जो-दडो की सीलों पर ग्रकित/उत्कीर्णत प्रतिमाकृतियो मे कोई सगति है ? क्या दोनो की शरीर-रचना (ग्रनाटॉमी) समान है ? भुजाग्रो का प्रलम्बन, एडियो का सटा होना, दोनो ग्रगुष्ठो के बीच का ग्रतर, नासिकाग्र दृष्टि, ग्रधखुली ग्राँखे, केश-विन्यास ग्रादि कई ऐसे मुद्दे है, जिन्हे गभीरता से/तुलनात्मक तल पर देखा जाना चाहिये ।

५ मोहन-जो-दडो जब उन्नति के चरम शिखर पर था, तब जैनो का व्यापार काफी दूर तक विस्तृत था । उनकी पहचान-मुद्राएँ/हुडियाँ (बिल ग्रॉफ एक्सचेंज) प्रचलित थी । क्या इन हुडियो का, जो ग्राज भी प्रचलन मे है, तब कोई ग्रर्थ था ? क्या हम इस तरह की हुडियो की खोजबीन नही कर सकते ? सभव है इनका कोई भाग, कोई रूप हमे मिल जाए । 'मोडी' लिपि के विश्लेषण से भी कोई कुजी हमे मिल सकती है ।

६ कहा जाता है कि जो लिपि मोहन-जो-दडो की खुदाई मे प्राप्त बर्तनो ग्रौर सीलो मे कही-कही प्रयुक्त हुई है, वह ब्राह्मी[१८] का ही कोई रूप है । ब्राह्मी ऋषभनाथ की पुत्री थी, जिसे उन्होने

लिपि-ज्ञान कराया था। क्या हम इस सभावना पर कोई विचार नही करना चाहेगे ?

७ 'अथर्वन्' शब्द 'भरत' के पर्याय शब्द के रूप मे प्रयुक्त हुआ है; क्या इसे लेकर हम कोई विवेचना करना चाहेगे ? मोहन-जो-दडो की सस्कृति पर अथर्ववेद का प्रभाव माना जाता है, हम देखे कि क्या इस शब्द-साम्य मे गहरे कही कोई सास्कृतिक साम्य पॉव दबाये बैठा है ?

यह उपयुक्त समय है जबकि हमे उक्त सारे तथ्यो को समीक्षा के पटल पर लेना चाहिये और मोहन-जो-दडो की खुदाई मे प्राप्त सपूर्ण सामग्री का पुरातत्त्व, इतिहास, परम्परा, लिपि, भाषा आदि की दृष्टि से सावधान विश्लेषण/अनुसधान-अध्ययन करना चाहिये।

[टिप्पणियाँ देखिये, परिशिष्ट १, पृष्ठ २१]

मोहन-जो-दड़ो : जैन परम्परा और प्रमाण

भारतीय जैन शिल्पकला का प्रयोजन क्या है और क्यो इसका इतना विकास हुआ – एक ऐसा विषय है, जिस पर काफी उन्मुक्त और युक्तियुक्त विचार होना चाहिये। जैनधर्म और दर्शन वैराग्यमूलक है, उनका सम्बन्ध अन्तर्मुख सौदर्य से है। किन्तु यह जिज्ञासा सहज ही मन मे उठती है कि क्या अन्तर्मुख सौदर्य की कोई बाह्य अभिव्यक्ति सभव नही है? कोई काष्ठ, धातु या पाषाण-खण्ड अपने आप बोल उठे, यह सभव ही नही है, क्योकि यदि किसी पाषाण-काष्ठखण्ड आदि को शिल्पाकृति लेनी होती तो वह स्वय वैसा कभी का कर चुका होता, किन्तु ऐसा है नही। बात कुछ और ही है। जब तक कोई साधक/शिल्पी अपनी भव्यता को पाषाण मे लयबद्ध/तालबद्ध नही करता, तब तक किसी भी शिल्पाकृति मे प्राण-प्रतिष्ठा असभव है। काष्ठ, मिट्टी, पत्थर, कांसा, तांबा – माध्यम जो भी हो – चेतन की तरगो का रूपाकन जब तक कोई शिल्पी उन पर नही करता, वे गूँगे बने रहते हैं।

मूर्ति जैनो के लिए साधना/आराधना का आलम्बन है। वह साध्य नही है, साधन है। उसमे स्थापना निक्षेप से भगवत्ता की परिकल्पना की जाती है। शिल्पी भी वही करता है। मोहन-जो-दडो मे जो सीले (मुद्राएँ) मिली है, वे भी साधन हैं, साध्य नही है, मार्ग है, गन्तव्य नही है, किन्तु शिल्प और कला, वास्तु और स्थापत्य के माध्यम इतने सशक्त है कि उनके द्वारा परम्परा और इतिहास को प्रेरक, पवित्र और कालातीत बनाया जा सकता है।

जैन स्थापत्य और मूर्ति-शिल्प का मुख्य प्रयोजन आत्मा की विशुद्धि को प्रकट करना और आत्मोत्थान के लिए एक व्यावहारिक/सुमधुर भूमिका तैयार करना है, इसलिए सौदर्य, मनोज्ञता, प्रफुल्लता, स्थितप्रज्ञता, एकाग्रता, आराधना, पूजा आदि के इस माध्यम को हम

जितना भी यथार्थमूलक तथा भव्य बना सकते है, बनाने का प्रयत्न करते हैं। इनमे भगवान् भला कहाँ है? कैसे हो सकते है? फिर भी है और हम उन्हे पा सकते है। मूर्ति की भव्यता इसमे है कि वह स्वय साधक मे उपस्थित हो और साधक की सार्थकता इसमे है कि वह मूर्ति मे समुपस्थित हो। इन दोनो के तादात्म्य मे ही साधना की सफलता है।

मोहन-जो-दडो से प्राप्त सीलो (मुद्राओ) की सब मे बडी विशेषता है कला की दृष्टि से उनका उत्कृष्ट होना। शरीर-गठन और कला-सयोजन की सूक्ष्मताओ और सौदर्य की सतुलित/आनुपातिक अभिव्यक्ति ने इन सीलो को एक विशेष कला – सपूर्णता प्रदान की है। बहुत सारे विषयो का एक साथ सफलतापूर्वक सयोजन इन सीलो की विशेषता है।

उक्त दृष्टि से भारत सरकार के केन्द्रीय पुरातात्त्विक सग्रहालय मे सुरक्षित सील क्र ६२०/१९२८-२९ समीक्ष्य है। इसमे जैन विषय और पुरातथ्य को एक रूपक के माध्यम से इस खूबी के साथ अकित/समायोजन किया गया है कि वह जैन पुरातत्त्व और इतिहास की एक प्रतिनिधि निधि बन गये है। न केवल पुरातात्त्विक अपितु इतिहास और परम्परा की दृष्टि से भी इस सील (मुद्रा) का अपना महत्त्व है।

इसमे दायी ओर नग्न कायोत्सर्ग मुद्रा मे भगवान् ऋषभदेव है, जिनके शिरोभाग पर एक त्रिशूल है, जो रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) का प्रतीक है। निकट ही नतशीश है उनके ज्येष्ठ पुत्र चक्रवर्ती भरत, जो उष्णीष धारण किये हुए राजसी ठाठ मे है। वे भगवान् के चरणो मे अजलिबद्ध भक्तिपूर्वक नतमस्तक हैं। उनके पीछे वृषभ (बैल) है, जो ऋषभनाथ का चिह्न (पहचान) है। अधोभाग मे सात प्रधान आमात्य है, जो तत्कालीन राजसी गणवेश मे पदानुक्रम से पक्तिबद्ध है।

चक्रवर्ती भरत सोच रहे है 'ऋषभनाथ का अध्यात्म-वैभव और मेरा पार्थिव वैभव!! कहाँ है दोनो मे कोई साम्य? वे ऐसी ऊँचाइयो पर है जहाँ तक मुझ अकिचन की कोई पहुँच नही है।' भरत की यह निष्काम भक्ति उन्हे कमल-दल पर पडे ओस-बिन्दु की भाँति निर्लिप्त बनाये हुए है। वे आकिचन्य-बोधि से धन्य हो उठे है।

'सर्वार्थसिद्धि' १-१ (ग्राचार्य पूज्यपाद) मे कहा है मूर्त्तमिव मोक्षमार्गवाग्विसर्ग वपुषा निरूपयन्तम् (वे नि शब्द ही अपनी देहकृति मात्र से मोक्षमार्ग का निरूपण करने वाले है)। शब्द जहाँ घुटने टेक देता है, मूर्ति वहाँ सफल सवाद बनाती है। मूर्ति भक्ति का भाषातीत माध्यम है। उसे अपनी इस सहज प्रक्रिया मे किसी शब्द की आवश्यकता नही है। उसकी अपनी वर्णमाला है, इसीलिए मिट्टी, पाषाण आदि को आत्मसस्कृति का प्रतीक माना गया है।

कौन नही जानता कि मूर्ति पाषाण आदि मे नही होती, वह होती है वस्तुत मूर्तिकार की चेतना मे पूर्वस्थित, जिसे कलाकार क्रमश उत्कीर्ण करता है अर्थात् वह काष्ठ आदि के माध्यम से आत्माभिव्यजन या आत्मप्रतिबिम्बन करता है। पाषाण जड है, किन्तु उसमे जो रूपायित या मूर्तित है वह महत्त्वपूर्ण है। मूर्ति मे सम्प्रेषण की अपरिमित ऊर्जा है। यही ऊर्जा या क्षमता साधक को परम भगवत्ता/परमात्मतत्त्व से जोडती है अर्थात् साधक इसके माध्यम से मूर्तिमान तक अपनी पहुँच बनाता है।

शिल्पशास्त्र प्रथमानुयोग का विषय है। विशुद्ध आत्मबोधि से पूर्व हम इसी माध्यम की स्वीकृति पर विवश हैं। आगम क्या है? आगम माध्यम है सम्यक्त्व तक पहुँचने का। आगम केवली के बोधिदर्पण का प्रतिबिम्ब है, जिसका अनुगमन हम श्रद्धा-भक्ति द्वारा कर सकते है। 'आगम' शब्द की व्युत्पत्ति है: आगमयति हिताहित बोधयति इति आगम (जो हित-अहित का बोध कराते है, वे आगम है)। तीर्थंकर की दिव्यवाणी को इसीलिए आगम कहा गया है।

कहा जा सकता है कि अध्यात्म से पुरातत्त्व/मूर्तिशिल्प आदि की प्राचीनता का क्या सम्बन्ध है? इस सिलसिले मे हम कहेगे कि शिल्पकला आदि के माध्यम से आगम बोधगम्य बनता है और हम बडी आसानी से उस कटकाकीर्ण मार्ग पर पग रखने मे समर्थ होते है।

जैनधर्म की प्राचीनता निर्विवाद है। प्राचीनता के इस तथ्य को हम दो साधनो से जान सकते हैं—पुरातत्त्व और इतिहास। जैन पुरातत्त्व का प्रथम सिरा कहाँ है, यह तय करना कठिन है, क्योकि मोहन-जो-दडो की खुदाई मे ऐसी कुछ सामग्री मिली है, जिसने जैनधर्म की प्राचीनता को आज से कम-से-कम ५००० वर्ष आगे धकेल दिया है।[1] सिन्धुघाटी से प्राप्त मुद्राओ के अध्ययन से स्पष्ट हुआ है कि

'कायोत्सर्ग मुद्रा' जैनो की अपनी लाक्षणिकता है। प्राप्त मुद्राओ की तीन विशेषताएँ हैं . कायोत्सर्ग मुद्रा, ध्यानावस्था और नग्नता (दिगम्बरत्व)।[2]

मोहन-जो-दडो की सीलो पर योगियो की जो कायोत्सर्ग मुद्रा अकित है उसके साथ वृषभ भी है। 'वृषभ' ऋषभनाथ का चिह्न (लाछन) है। 'पद्मचन्द्र कोश' मे ऋषभ का व्युत्पत्तिक अर्थ दिया है : 'सपूर्ण विद्याओ के पार जाने वाला एक मुनि ।'[3] हिन्दू पुराणो मे जो वर्णन मिलता है उसमे ऋषभ और भरत दोनो के विपुल उल्लेख हैं। पहले माना जाता रहा है कि दुष्यन्तपुत्र भरत के नाम से ही इस देश का नाम भारत हुआ, किन्तु अब यह निर्भ्रान्त हो गया है कि भारत ऋषभ-पुत्र 'भरत' के नाम पर ही 'भारत' कहलाया।[4] इसका पूर्वनाम अजनाभवर्ष था। नाभि (अजनाभ) ऋषभ के पिता थे। उन्ही के नाम पर यह अजनाभवर्ष कहलाया। 'वर्ष' का अर्थ है 'देश', तदनुसार 'भारतवर्ष' का अर्थ हुआ 'भारतदेश'। मोहन-जो-दडो की सकेतित सील मे भरत चक्रवर्ती की मूर्ति भी उकेरी गयी है। इन सारे पुरातथ्यो की वस्तुनिष्ठ समीक्षा की जानी चाहिये।

सील (देखिये, इसी पुस्तिका का मुखपृष्ठ) को जब हम तफसील-वार या विस्तार मे देखते है तब इसमे हमे सात विषय दिखायी देते है (१) ऋषभदेव – नग्न कायोत्सर्गरत योगी। (२) प्रणाम की मुद्रा मे नतशीश भरत चक्रवर्ती। (३) त्रिशूल। (४) कल्पवृक्ष पुष्पावलि। (५) मृदु लता। (६) वृषभ (बैल)। (७) पक्तिबद्ध गणवेशधारी सात प्रधान आमात्य।

निश्चय ही इस तरह की सरचना का आधार पीछे से चली आती कोई सुदृढ सास्कृतिक परम्परा ही हो सकती है। प्रचलित लोक-परम्परा के अभाव मे मात्र जैनागम के अनुसार इस तरह की परिकल्पना सभव नही है।

इतिहास मे ही हम अपने प्राचीन ऋक्थ (धरोहर) को प्रामाणिक रूप मे सुरक्षित पाते है। इतिहास, ऐतिह्य, और आम्नाय समानार्थक शब्द हैं।[5] इतिहास शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार इसका वाच्यार्थ है इति ह आसीत् (निश्चय से ऐसा ही हुआ था तथा परम्परा से ऐसा ही है)। इतिहास असल मे दीपक है। जिस तरह एक दीपक से हम वस्तु के यथार्थ रूप को देख पाते

हैं, ठीक वैसे ही इतिहास से हमे पुरातथ्यो की निर्भ्रान्त सूचना मिलती है ।

परम्परा और इतिहास मे किंचित् अन्तर है । इतिहास स्थूल/ठोस तथ्यो पर आधारित होता है, परम्परा लोकमानस मे उभरती और आकार ग्रहण करती है । एक पीढ़ी जिन आस्थाओ, स्वीकृतियो और प्रवचनो को आगामी पीढी को सौपती है, परम्परा उनसे बनती है । परम्पराओ का कोई सन्-सवत् नही होता । वैसे इस शब्द के नानार्थ है । एक अर्थ पुरासामग्री भी है । परम्परा अर्थात् एक सुदीर्घ अतीत से जो अविच्छिन्न चला आ रहा है वह । योगियो की भी एक अविच्छिन्न/अटूट परम्परा रही है । योग-विद्या क्षत्रियो की अपनी मौलिकता है । क्षत्रियो ने ही उसे द्विजो को हस्तान्तरित किया ।[६] ऐसा लगता है कि सिन्धुघाटी के उत्खनन मे प्राप्त सीले एक सुदीर्घ परम्परा की प्रतिनिधि हैं । वे आकस्मिक नही हैं, अपितु एक स्थापित सत्य को प्रकट करती हैं ।

भारतीय इतिहास, सस्कृति और साहित्य ने इस तथ्य को पुष्ट किया है कि सिन्धुघाटी की सभ्यता जैन सभ्यता थी ।[७] सिन्धुघाटी के सस्कार जैन सस्कार थे । इससे यह उपपत्ति बनती है कि सिन्धु-घाटी मे प्राप्त योगमूर्ति, ऋग्वैदिक वर्णन, तथा भागवत, विष्णु आदि पुराणो मे ऋषभनाथ की कथा आदि इस तथ्य के साक्ष्य है कि जैनधर्म प्राग्वैदिक ही नही वरन् सिन्धुघाटी सभ्यता से भी कही अधिक प्राचीन है ।

श्री नीलकण्ठदास साहू के शब्दो मे 'जैनधर्म ससार का मूल अध्यात्म धर्म है । इस देश मे वैदिक धर्म के आने से बहुत पहले से ही यहाँ जैनधर्म प्रचलित था । खूब सभव है कि प्राग्वैदिको मे शायद द्रविडो मे यह धर्म था ।[८]

कुछ ऐसे शब्द है, जो जैन परम्परा मे रूढ बन गये है । डॉ० मगलदेव शास्त्री का कथन है कि 'वातरशन' शब्द जैन मुनि के अर्थ मे रूढ़ हो गया था । उनकी मान्यता है कि 'श्रमण' शब्द की भाँति ही 'वातरशन' शब्द मुनि-सम्प्रदाय के लिए प्रयुक्त था । मुनि-परम्परा के प्राग्वैदिक होने मे दो मत नही हैं ।[९]

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल भारतीय इतिहास/वाङ्मय के जाने-माने विद्वान् रहे है । उन्होने भी स्वीकार किया है कि भारत

का नाम ऋषभ के ज्येष्ठ पुत्र भरत के नाम पर ही भारतवर्ष हुआ। इससे पहले भ्रान्तिवश उन्होने दुष्यन्त-पुत्र भरत के कारण इसे भारत अभिहित किया था।[10]

जैनो का इतिहास बहुत प्राचीन है। भगवान् महावीर से पूर्व तेईस और जैन तीर्थंकर हुए हैं, जिनमे सर्वप्रथम है ऋषभनाथ। सर्वप्रथम होने के कारण ही उन्हे आदिनाथ भी कहा जाता है। जैन कला मे उनकी जो मुद्रा अंकित है वह एक गहन तपश्चर्यारत महायोगी की है। भागवत मे ऋषभनाथ का विस्तृत जीवन-वर्णन है।[11]

जैन दर्शन के अनुसार यह जगत् अनादिनिधन है अर्थात् इसका न कोई ओर है और न छोर। यह रूपान्तरित होता है, किन्तु अपने मूल मे यह यथावत् रहता है। युग बदलते हैं, किन्तु वस्तु-स्वरूप नही बदलता। द्रव्य नित्य है, उसका रूपान्तरण संभव है, किन्तु ध्रौव्य असंदिग्ध है।

आज जो युग चल रहा है वह कर्मयुग है। माना जाता है कि यह युग करोडो वर्ष पूर्व आरंभ हुआ था। उस समय भगवान् ऋषभनाथ युग-प्रधान थे। असि (रक्षा), मसि (व्यापार), कृषि (खेती) और अध्यात्म (आत्मविद्या) की शिक्षा उन्होने दी। उन्होने प्रजाजनो को, जो कर्मपथ से अनभिज्ञ थे, बीज, चक्र, अंक और अक्षर दिये। कर्मयुग की यह परम्परा तब से अविच्छिन्न चली आ रही है।

ऋषभनृप दीर्घकाल तक शासन करते रहे। उन्हाने उन कठिन दिनो मे जनता को सुशिक्षित किया और उनकी बाधाओ, व्यवधानो और दुविधाओ का अन्त किया। अन्त मे आत्मशुद्धि के निमित्त उन्होने श्रमणत्व ग्रहण कर लिया और दुर्द्धर तपश्चर्या मे निमग्न हो गये। स्वय द्वारा स्थापित परम्पराओ और प्रवर्तनो के अनुसार उन्होने ज्येष्ठ पुत्र भरत को अपना संपूर्ण राजपाट सौंपा और परिग्रह को जडमूल से छोड कर वे वैराग्योन्मुख हो गये, फलत वे परम ज्ञाता-दृष्टा बने। उन्होने अपनी समस्त इन्द्रियो को जीत लिया, अत वे 'जिन' कहलाये। 'जिन' की व्युत्पत्ति है जयति इति जिन (जो स्वय को जीतता है, वह जिन है)।

कैवल्य-प्राप्ति के बाद उन्होने जनता को अध्यात्म का उपदेश दिया और बताया कि आत्मोपलब्धि के उपाय क्या है? चूंकि उनका

उपनाम 'जिन' था, अत उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म जैनधर्म कहलाया। इस तरह जैनधर्म विश्व का सर्वप्रथम धम बना।

भगवान् ऋषभनाथ का वर्णन वेदो मे नाना सदर्भों मे मिलता है। कई मन्त्रो मे उनका नाम आया है। मोहन-जो-दडो (सिन्धु-घाटी) मे पाँच हजार वर्ष पूर्व के जो पुरावशेष मिले हैं उनसे भी यही सिद्ध होता है कि उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म हजारो साल पुराना है। मिट्टी की जो सीलें वहाँ मिली हैं, उनमे ऋषभनाथ की नग्न योगिमूर्ति है। उन्हे कायोत्सर्ग मुद्रा मे उकेरा गया है। उनकी इस दिगम्बर खड्गासनी मुद्रा के साथ उनका चिह्न बैल भी किसी-न-किसी रूप मे अकित हुआ है। इन सारे तथ्यो से यह सिद्ध होता है कि जैनो का अस्तित्व मोहन-जो-दडो की सभ्यता से अधिक प्राचीन है।

श्री रामप्रसाद चन्दा ने अगस्त, १९३२ के 'माडर्न रिव्यू' मे कायोत्सर्ग मुद्रा के सम्बन्ध मे विस्तार से लिखा है (देखिये इसी पुस्तिका का अन्तिम आवरण-पृष्ठ)। उन्होने इस मुद्रा को जैनो की विशिष्ट ध्यान-मुद्रा कहा है और माना है कि जैनधर्म प्राग्वैदिक है, उसका सिन्धुघाटी की सभ्यता पर व्यापक प्रभाव था।

मोहन-जो-दडो की खुदाई मे उपलब्ध मृण्मुद्राओ (सीलो) मे योगियो की जो ध्यानस्थ मुद्राएँ है, वे जैनधर्म की प्राचीनता को सिद्ध करती है। वैदिक युग मे व्रात्यो और श्रमणो[१२] की परम्परा का होना भी जैनो के प्राग्वैदिक होने को प्रमाणित करता है। व्रात्य का अर्थ महाव्रती है। इस शब्द का वाच्यार्थ है 'वह व्यक्ति जिसने स्वेच्छया आत्मानुशासन को स्वीकार किया है'। इस अनुमान की भी स्पष्ट पुष्टि हुई है कि ऋषभ-प्रवर्तित परम्परा, जो आगे चल कर शिव मे जा मिली, वेदचर्चित होने के साथ ही वेदपूर्व भी है।[१३] जिस तरह मोहन-जो-दडो मे प्राप्त सीलो की कायोत्सर्ग-मुद्रा आकस्मिक नही है, उसी तरह वेद-वर्णित ऋषभ नाम भी आकस्मिक नही है, वह भी एक सुदीर्घ परम्परा का द्योतक है, विकास है। ऋग्वेद के दशम मण्डल मे जिन अतीन्द्रियदर्शी वातरशन मुनियो की चर्चा है, वे जैन मुनि ही है।

श्री रामप्रसाद चन्दा ने अपने लेख मे जिस सील का वर्णन दिया है, उसमे अकित/उत्कीर्णित ऋषभ-मूर्ति को ऋषभ-मूर्तियो का पुरखा कहा जा सकता है। ध्यानस्थ ऋषभनाथ, त्रिशूल, कल्पवृक्ष-पुष्पावलि,

वृषभ, मधु लता, भरत और सात मन्त्री आदि महत्त्वपूर्ण तथ्य है। जैन वाङ्मय से इन तथ्यो की पुष्टि होती है।[14] इतिहासवेत्ता श्री राधाकुमुद मुकर्जी ने भी इस तथ्य को माना है।[15] मथुरा-सग्रहालय मे भी ऋषभ की इसी तरह की मूर्ति सुरक्षित है।[16] श्री पी सी राय ने माना है कि मगध मे पाषाणयुग के बाद कृषियुग का प्रवर्तन ऋषभयुग मे हुआ।[17]

भगवान् ऋषभनाथ कायोत्सर्ग-मुद्रा मे

श्री चन्दा ने जिस सील का विस्तृत विवरण दिया है, वह परम्परा जैन साहित्य मे आश्चर्यजनक रूप से सुरक्षित है। आचार्य वीरसेन द्वारा रचित 'धवला'[18], विमलसूरि द्वारा रचित प्राकृत ग्रन्थ 'पउमचरिय'[19] एव जिनसेनकृत 'आदिपुराण'[20] की कारिकाओ/गाथाओ मे जो वर्णन मिलते हैं उनमे तथा उक्त सील मे बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव देखा जा सकता है। इन वर्णनो के सूक्ष्मतर अध्ययन से पता चलता है कि इस तरह की कोई मुद्रा अवश्य ही व्यापक प्रचलन मे रही होगी, क्योकि मोहन-जो-दडो की सील मे अकित आकृतियो तथा जैन साहित्य मे उपलब्ध वर्णनो का यह साम्य आकस्मिक नही हो सकता। निश्चय ही यह एक अविच्छिन्न परम्परा की ठोस परिणति है। यदि हम पूर्वोक्त ग्रन्थो के विवरणो को सील के विवरणो से समन्वित करे तो सपूर्ण स्थिति की स्पष्ट व्याख्या इस प्रकार सभव है —

पुरुदेव (ऋषभदेव) नग्न खड्गासन
कायोत्सर्ग मुद्रा मे अवस्थित है
उनके शीर्षोपरि भाग पर त्रिशूल अभिमण्डित है
यह रत्नत्रय की शिल्पाकृति है

कोमल दिव्यध्वनि के प्रतीक रूप एक लता-पर्ण मुखमण्डल के पास सुशोभित है[21]

दो ऊर्ध्वग कल्पवृक्ष-शाखाएँ है पुष्प-फलयुक्त,
महायोगी उससे परिवेष्टित है
यह भक्ति-प्राप्य फल की द्योतक है

चक्रवर्ती भरत भगवान् के चरणो मे अजलिबद्ध प्रणाम-मुद्रा मे नतशीश है[22]

भरत के पीछे वृषभ है, जो भगवान् ऋषभनाथ का
चिह्न (लाछन) है

अधोभाग मे है अपने राजकीय गणवेश मे सात मन्त्री

मृदु लता-पर्ण

जिनके पदनाम है –

माण्डलिक राजा, ग्रामाधिपति, जनपद अधिकारी,
दुर्गाधिकारी (गृह मन्त्री), भण्डारी (कृषिवित्त मन्त्री),
षडग बलाधिकारी (रक्षा मन्त्री), मित्र (परराष्ट्र मन्त्री)।

मोहन-जो-दडो की मुद्राओ मे उत्कीर्णित इन तथ्यो का स्थूल भाष्य सभव नही है, क्योकि परम्पराओ और लोकानुभवो को छोड कर यदि हम इन सीलो की व्याख्या करते है तो यह व्याख्या न तो यथार्थपरक होगी और न ही वैज्ञानिक। जब तक हम इस तथ्य को ठीक से आत्मसात नही करेगे कि मोहन-जो-दडो की सभ्यता पर योगियो की आत्मविद्या की स्पष्ट प्रतिच्छाया है, तब तक इन तथ्यो के साथ न्याय कर पाना सभव नही होगा, अत इतिहासविदो और पुरातत्त्ववेत्ताओ को चाहिये कि वे प्राप्त तथ्यो को परवर्ती साहित्य की छाया मे देखे/खोजे और तब कोई निष्कर्ष ले। वास्तव मे इसी तरह के तुलनात्मक और व्यापक, वस्तुनिष्ठ और गहन विश्लेषण से ही यह सभव हो पायेगा कि हमारे सामने कोई वस्तुस्थिति आये।

अब हम उन प्रतीको की चर्चा करेगे, जो मोहन-जो-दडो के अवशेषो मे मिले है और जैन साहित्य मे भी जिनका उपयोग हुआ है। यहाँ तक कि इनमे से कुछ प्रतीक तो आज तक जैन जीवन मे प्रतिष्ठित हैं।

सब मे पहले हम 'स्वस्तिक' को लेते है। सिन्धुघाटी से प्राप्त कुछ सीलो मे स्वस्तिक (साँथिया) भी उपलब्ध है।[२३] इससे यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि सिन्धुघाटी के लोकजीवन मे स्वस्तिक एक मागलिक प्रतीक था। साँथिया आज भी जैनो मे व्यापक रूप मे पूज्य और प्रचलित है। इसे जैन ग्रन्थो, जैन मदिरो, और जैन ध्वजाओ पर अकित देखा जा सकता है। व्यापारियो मे इसका व्यापक प्रचलन है। दीपावली पर जब नये खाते-बहियो का आरभ किया जाता है, तब साँथिया माँडा जाता है।

साँथिया (१)

स्वस्तिक जैन जीव-सिद्धान्त का भी प्रतीक है। इसे चतुर्गति का सूचक माना गया है। जीव की चार गतियाँ वर्णित है नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव। स्वस्तिक के शिरोभाग पर तीन बिन्दु रखे जाते हैं, जो रत्नत्रय के प्रतीक है। इन तीन बिन्दुओ के ऊपर एक

चन्द्रबिन्दु होता है जो क्रमश लोकाग्र और निर्वाण का परिचायक है। 'स्वस्ति' का एक अर्थ कल्याण भी है।

त्रिशूल

'त्रिशूल' दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रतीक है, जो सिन्धुघाटी की सीलो पर तो अकित है ही, जैन ग्रन्थो मे भी जिसकी चर्चा मिलती है। त्रिशूल आज भी लोकजीवन मे कुछ शैव साधुओ द्वारा रखा जाता है। जैन परम्परा मे त्रिशूल का रत्नत्रय का प्रतिनिधि माना गया है। त्रिरत्न हैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। इसकी चर्चा 'धवला'[२४], 'आदिपुराण'[२५], 'पुरुदेव चम्पू'[२६] मे मिलती है। त्रिशूल को जैनो का 'जैत्र' अस्त्र कहा गया है।

तीसरा है कल्पवृक्ष। यह कायोत्सर्ग मुद्रा मे खडी ऋषभमूर्ति के परिवेष्टन के रूप मे उत्कीर्णित है। 'आदिपुराण' तथा 'सगीत समयसार' मे इसके विवरण मिलते है।[२७]

अर्हद्दास ने मृदु लतालकृत मुख कह कर मृदु लता-पल्लव का आधार उपलब्ध करा दिया है।[२८]

भरत चक्रवर्ती श्रद्धाभक्तिपूर्वक ऋषभमूर्ति के सम्मुख अजलि बाँधे नमन-मुद्रा मे उपस्थित है। आचार्य जिनसेन, विमलसूरि आदि ने भरत की इस मुद्रा का तथा उनके द्वारा ऋषभार्चन का वर्णन किया है।[२९] तुलनात्मक अध्ययन और व्यापक अनुसधान से हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि मोहन-जो-दडो की सील पर जो रूपक अकित है वह जन-जीवन के लिए सुपरिचित, प्रौढ, प्रचलित रूपक है अन्यथा वह वहाँ से छन कर कवि-परम्परा मे इस तरह क्यो कर स्थापित होता ?

एक तथ्य और ध्यान देने योग्य है कि ब्राह्मणो को अध्यात्मविद्या क्षत्रियो से पूर्व प्राप्त नही थी। उन्हे यह क्षत्रियो से मिली, जिसका वे ठीक से पल्लवन नही कर पाये। 'छान्दोग्य उपनिषद्' मे इसकी झलक मिलती है।[३०]

साँथिया (२)

इससे पहले कि हम इस पुस्तिका को समाप्त करें कुछ ऐसे तथ्यो को और जाने जिनका जैनधर्म और जैन समाज की मौलिकताओ से सम्बन्ध है।

जैनधर्म आत्मस्वातन्त्र्यमूलक धर्म है। उसने न सिर्फ मनुष्य बल्कि प्राणिमात्र की स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया है। जीव तो

कल्पवृक्ष-पुष्पावलि

स्वाधीन है ही, यहाँ तक कि परमाणु-मात्र भी स्वाधीन है। कुल छ द्रव्य हैं। प्रत्येक स्वाधीन है। कोई किसी पर निर्भर नही है। न कोई द्रव्य किसी की सत्ता मे हस्तक्षेप करता है और न ही होने देता है। वस्तुत लोकस्वरूप ही ऐसा है कि यहाँ सपूर्ण यातायात अत्यन्त स्वाधीन चलता है। जैनो का कर्मसिद्धान्त भी इसी स्वातन्त्र्य पर आधारित है। श्री जुगमन्दरलाल जैनी ने आत्मस्वातन्त्र्य के इस सिद्धान्त को बहुत ही सरल शब्दो मे विवेचित किया है।[31]

इस भ्रम को भी हमे दूर कर लेना चाहिये कि जैन और बौद्ध धर्म समकालीन प्रवर्तन है। वास्तविकता यह है कि बौद्धधर्म जैनधर्म का परवर्ती है। स्वय गौतम बुद्ध ने आरभ मे जैनधर्म को स्वीकार किया था, किन्तु वे उसकी कठोरताओ का पालन नही कर सके, अत मध्यम मार्ग की ओर चले आये।[32] इससे यह सिद्ध होता है कि बौद्धधर्म भले ही वेदो के खिलाफ रहा हो, किन्तु जैनधर्म जो प्राग्वैदिक है, कभी किसी धर्म के विरुद्ध नही उठा या प्रवर्तित हुआ। उसका अपना स्वतन्त्र विकास है। सपूर्ण जैन वाङ्मय मे कही किसी का विरोध नही है। जैनधर्म समन्वयमूलक धर्म है, विवादमूलक नही – उसके इस व्यक्तित्व से भी उसके प्राचीन होने का तथ्य पुष्ट होता है।

यहाँ श्री पी आर देशमुख के ग्रन्थ 'इडस सिविलाइजेशन एड हिन्दू कल्चर' के कुछ निष्कर्षो की भी चर्चा करेंगे। श्री देशमुख ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है, 'जैनो के पहले तीर्थकर सिन्धु सभ्यता से ही थे। सिन्धुजनो के देव नग्न होते थे। जैन लोगो ने उस सभ्यता/सस्कृति को बनाये रखा और नग्न तीर्थकरो की पूजा की।'[33]

प्रणति-मुद्रा मे भरत चक्रवर्ती

इसी तरह उन्होने सिन्धुघाटी की भाषिक सरचना का भी उल्लेख किया है। लिखा है 'सिन्धुजनो की भाषा प्राकृत थी। प्राकृत जन-सामान्य की भाषा है। जैनो और हिन्दुओ मे भारी भाषिक भेद है। जैनो के समस्त प्राचीन धार्मिक ग्रथ प्राकृत मे है, विशेषतया अर्द्धमागधी मे, जबकि हिन्दुओ के समस्त ग्रन्थ सस्कृत मे है। प्राकृत भाषा के प्रयोग से भी यह सिद्ध होता है कि जैन प्राग्वैदिक है और उनका सिन्धुघाटी सभ्यता से सम्बन्ध था।'[34]

उनका यह भी निष्कर्ष है कि जैन कथा-साहित्य मे वाणिज्यिक कथाएँ अधिक है। उनकी वहाँ भरमार है, जबकि हिन्दू ग्रन्थो मे इस

तरह की कथाम्रो का अभाव है। सिन्धुघाटी की सभ्यता मे एक वाणिज्यिक कॉमनवेल्थ (राष्ट्रकुल) का अनुमान लगता है। तथ्यो के विश्लेषण से पता लगता है कि जैनो का व्यापार समुद्र-पार तक फैला हुआ था। उनकी हुडियाँ चलती/सिकरती थी। व्यापारिक दृष्टि से वे 'मोडी' लिपि का उपयोग करते थे। यदि लिपि-बोध के बाद कुछ तथ्य सामने आये तो हम जान पायेगे कि किस तरह जैनो ने पाँच सहस्र पूर्व एक सुविकसित व्यापार-तन्त्र का विकास कर लिया था।[३४]

राजसी गणवेश मे एक मन्त्री

इन सारे तथ्यो से जैनधर्म की प्राचीनता प्रमाणित होती है। प्रस्तुत पुस्तिका मात्र एक आरभ है; अभी इस सदर्भ मे पर्याप्त अनुसधान किया जाना चाहिये। □

[टिप्पणियाँ देखिये, परिशिष्ट २, पृष्ठ २३]

परिशिष्ट १ : टिप्पणियाँ (प्रामुख)

1 Mohen-jo-daro, the 'Mound of the Dead', **Sind Five Thousand Years ago,** by Ramprasad Chanda, **Modern Review,** Aug 1932, p 152

2 Mohen-jo-daro the 'Mound of the Dead', situated in Larkana District in Sind, stands on a long narrow strip of land between the main bed of the Indus and the western Naro loop (27°19 'N and 68°8' E)—do—

3 —do—, 1922-27, p 152

4 —do—, p 152

5 'ऋषभदेव की कृच्छ साधना का मेल ऋग्वेद की प्रवृत्तिमार्गी धारा से नही बैठता। वेदोल्लिखित होने पर भी ऋषभदेव वेदपूर्व परम्परा के प्रतिनिधि है।" –सस्कृति के चार अध्याय, रामधारीसिंह दिनकर, पृ १३०। ' विद्वानो का अभिमत है कि यह धर्म प्रागैतिहासिक और प्राग्वैदिक है। सिन्धु घाटी की सभ्यता मे मिली योगिमूर्ति तथा ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रो मे ऋषभ और अरिष्टनेमि जैसे तीर्थंकरो के नाम इस विचार के मुख्य आधार है। 'भागवत' और 'विष्णुपुराण' मे मिलने वाली जैन तीर्थकर ऋषभदेव की कथा भी जैनधर्म की प्राचीनता को व्यक्त करती है।" —भारतीय इतिहास और सस्कृति, डॉ विशुद्धानन्द/डॉ जयशकर मिश्र, भारतीय विद्या प्रकाशन, १०८, कचौडी गली, वाराणसी, पृष्ठ १९६।

6 No 620/1928-29, Mohen-jo-daro, Seal, AST Govt of India, Modern Review (Calcutta) Aug 1932, **Sind Five Thousand Years Ago** by Ramprasad Chanda, Plate II, Seal f — **Seal with Standing diety and bull**

7 – do– , Seal d e,f g h i

8 "वस्तुत जैनधर्म ससार मे मूल अध्यात्म धर्म है। इस देश मे वैदिक धम के आने के बहुत ही पहले से सही मे जैनधर्म प्रचलित था। खूब सभव है कि प्राग्वैदिको मे शायद द्रविडो मे यह धर्म था।" – उडीसा मे जैन-धर्म, नीलकण्ठदास, भुवनेश्वर, प्र ३, अखिल विश्व जैन मिशन, अलीगज, एटा, १९५८।

9 —do—, Seal c & f Seal no 337, p 155

10 —do—, Seal b & f

11 **Sind Five Thousand Years Ago** by Ramprasad Chanda, Modern Review, Calcutta, August 1932, pp 151—160

12 The Indus Script, Texts, Concordance and Tables by Irvatham Mahadevan, ASI New Delhi

13 **Sind Five Thousand Years Ago** by Ramprasad Chanda, **Modern Review,** Calcutta, Aug 1932, pp 157, 158

14 Who were the Indus People ? Review of teh book written by Mahadevan in **Sunday Standard** Aug 19, 1979 by S B ROY, See fn 12

15 —do—

16 जैन व्यापारी जिस लिपि का उपयोग परम्परया करते रहे हैं उसे "मोडी" कहा जाता है। यह घसीट लिखाई है। इसमे त्वरा का महत्व है। यह दक्षिण भारत से सबद्ध मानी जाती है। – मानक हिन्दी, कोश, भाग ४, पृष्ठ ४२१, रामचन्द्र वर्मा।

17 आदिनाथ, ब्रह्मा, महायोगी, आदिदेव, महादेव, प्रजापति आदि।

18 "ऋषभदेव ने ही सभवत लिपिविद्या के लिए कौशल का उद्भावन किया। ऋषभदेव ने ही सभवत ब्रह्मविद्या की शिक्षा के लिए उपयोगी ब्राह्मी लिपि का प्रचार किया था।" —हिन्दी विश्वकोश, प्रथम भाग, सपादक– नगेन्द्रनाथ वसु, पृष्ठ ६४, पुरुदेव चम्पू, महाकवि अर्हद्दास, षष्ठ स्तबक ३६, ४०।

19 "ब्रह्मा देवाना प्रथम सबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्या सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह।" —मुण्डकोपनिषद् १ १

–देवताओ मे सर्वप्रथम ब्रह्मा उत्पन्न हुए। वे विश्व के कर्ता, असि, कृषि, मसि, वाणिज्य, शिल्प और विद्या के सप्रदाता थे, इसीलिए तीनो भुवनो के रक्षक थे। उन्होने समस्त विद्याओ मे प्रतिष्ठित ब्रह्मविद्या (अध्यात्म विद्या) अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्व – भरत – के निमित्त कही। □

परिशिष्ट २ : टिप्पणियाँ

१ सिंध फाइव थाउजेंड इयर्स एगो, रामप्रसाद चन्दा, 'मॉडर्न रिव्यू', कलकत्ता, अगस्त १९३२ (दे परि)।
२ अतीत का अनावरण, आचार्य तुलसी, मुनि नथमल, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली १९६६, पृ १९।
३ पद्मचन्द्र कोश, पृ ४९५, ऋषभदेव (पु) १. ऋष+अभक्=जाना, दिव=अच् (सपूर्ण विद्याओ मे पार जाने वाला एक मुनि), २ जैनो का पहला तीर्थंकर।
४ मार्कण्डेय पुराण सास्कृतिक अध्ययन, डॉ वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ २२-२४।
५ आदिपुराण १/२५, आचार्य जिनसेन।
६ प्रतिष्ठातिलक १८/१, नेमिचन्द्र।
७ भारतीय दर्शन, पृ ६३, वाचस्पति गैरोला।
८ उडीसा मे जैनधर्म, डॉ लक्ष्मीनारायण साहू, श्री अखिल जैन मिशन, एटा, ग्र प्र, उ, १९५९।
९ 'नवनीत', हिन्दी मासिक, बम्बई, डॉ मगलदेव शास्त्री, जून १९७४, पृ ६६।
१० दे टि क्र ४।
११ जैन साहित्य का इतिहास, पूर्व पीठिका, प कैलाशचन्द शास्त्री, भूमिका – डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ ८।
१२ भारतीय दर्शन, वाचस्पति गैरोला, पृ ६३।
१३ सस्कृति के चार अध्याय, रामधारीसिंह दिनकर, पृ ३९।
१४ आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव, डॉ कामताप्रसाद जैन, पृ १३८।
१५ —वही—, पृ २३।
१७ जैनिज्म इन बिहार, पी सी राय चौधरी, पृ ७।
१८ छक्खडा – मगलायरण, १/१/२५ आचार्य वीरसेन, (तिरयण तिसूल धारिय)।
१९ पउमचरिय, विमलसूरि, ४६८-६९।
२० आदिपुराण, आचार्य जिनसेन २४/७३–७४।
२१ पुरुदेवचम्पूप्रबन्ध १/१, श्रीमद् अर्हद्दास (दिव्यध्वनि मृदुलतालकृतमुख)।
२२ पउमचरिय, विमलसूरि, ४/६८–६९।
२३ भारत मे सस्कृति एव धर्म, डॉ एम एल शर्मा, पृ १९।
२४ दे टि क्र १८।
२५ आदिपुराण, आचार्य जिनसेन १/४, (रत्नत्रय जैन जैत्रमस्त्र जयत्यद)।
२६ पुरुदेवचम्पूप्रबन्ध, श्रीमदर्हद्दास ५, (रत्नत्रय राजति जैत्रमस्त्र)।
२७ आदिपुराण, आचार्य जिनसेन, १५/३६, सगीत समयसार, आचार्य पार्श्वदेव ७/९६।
२८ दे टि क्र २१।
२९ आदिपुराण, २४/७७-७८, आचार्य जिनसेन, पउमचरिय ४/६८–६९, विमलसूरि।
३० छान्दोग्य उपनिषद्, शाकर भाष्य ५/७।
३१ आउटलाइन्स ऑफ जैनिज्म, जुगमदरलाल जैन, पृ ३४४।
३२ मज्झिमनिकाय (पालि) १२ महासिहनाद सुत्त, पृ ६०५।
३३ इडस सिविलाइजेशन, ऋग्वेद एड हिन्दू कल्चर, पी आर देशमुख, पृ ३६४।
३४ —वही—, पृ ३६७।
३५ —वही—, पृ ३६५।

एलाचार्य मुनि श्री विद्यानन्दजी और पुरातत्त्व

मुनिश्री और जैन कीर्तिस्तम्भ (चित्तौड)

एलाचार्य मुनि श्री विद्यानन्दजी का जन्म २२ अप्रैल, १९२५ को कर्नाटक के शेडवाल ग्राम मे हुआ और मुनि-दीक्षा सपन्न हुई २५ जुलाई, १९६३ को दिल्ली मे।

दिगम्बर जैन साधु की कठोर साधना और उसकी अपरिहार्य मर्यादाओ से सभी परिचित है, इतने पर भी मुनिश्री का निरन्तर सृजनोन्मुख (क्रिएटिव्ह) बने रह कर अध्यात्म और पुरातत्त्व की खोजयात्रा, स्वय मे एक बहुत बडी उपलब्धि है।

मुमुक्षा और जिज्ञीप्सा (प्रामाणिक जानने की इच्छा) के तेज पहियो पर आगम और आचार के रथ को अत्यन्त आश्वस्त भाव से दौडाना उनका अपना पराक्रम और पुरुषार्थ है।

जहाँ एक ओर उनमे आध्यात्मिक प्रयोगशाला दिन-रात सक्रिय है, वही दूसरी ओर उनमे जैन पुरातत्त्व और इतिहास-के-तथ्यो के आलोडन की युक्तियुक्त प्रक्रिया भी अविराम धडकती है। वे जिस भी विषय को गवेषणा के लिए लेते है उसकी तमाम गहराइयो और विस्तृतियो की बारीक-से-बारीक जानकारी हासिल किये बिना चैन नही लेते। यह ग्रन्थ, वह पाण्डुलिपि, यह सन वह सवत्, यह प्रतिमा, वह शिलालेख, यह चित्र, वह फोटोग्राफ— कोई वस्तु या वास्तु हो वे तब तक अपनी खोजयात्रा मे नही रुकते जब तक स्पष्ट और असंदिग्ध नही हो लेते। किसी काम को आधा-अधूरा छोडना उनका सस्कार नही है।

पुरातत्त्व की खोजयात्रा शुरू हुई १९४९ ई से। पहला पडाव बना नालन्दा (दक्षिण बिहार) की उत्खनन-सामग्री का परिदर्शन।

१९५२ ई मे उन्होने तात्या साहब चोपडे की कृति 'भगवान ऋषभदेव' पढी, जिसम लेखक ने 'मोहन-जो-दडो' का प्रसग उठाया है। पढते ही उनका पुरातत्त्व-रुचि-मृग कुलाँचे भरने लगा और वे मोहन-जो-दडो के सदर्भ मे जैन परम्परा और प्रमाणो का आकलन करने मे जुट गये।

ब्र मीतलप्रसादजी की पुस्तिका 'बगाल, बिहार, उडीसा के प्राचीन स्मारक' (१९२३ ई) ने उनकी मनीषा को झकझोरा और वे १९५८ मे उदयगिरि-खण्डगिरि तथा कलकत्ता-स्थित 'नेशनल लायब्रेरी' म अपनी ज्ञान-पिपासा बुझाते रहे। १९५८ ई मे उन्होने बम्बई पुरातत्त्व-सग्रहालय देखा और इसी क्रम मे १९७३ ई मे वे मथुरा के म्यूजियम म २-३ दिन रुके।

ये ही कुछ कारण है कि पाषाण भी उनस दिल खोल कर सवाद करते है और अपन मन-के-सारे-भेद नि सकोच प्रकट कर देत हैं। जिस निष्ठा से वे 'षट्खण्डागम' का स्वाध्याय करते है, हू-ब-हू वैसी ही निष्ठा से पुरातथ्यो की गहन/सूक्ष्मतर छानबीन करते है। प्रस्तुत कृति उनके ऐसे ही सिन्धु-मथन की भव्य फलश्रुति है। 'मोहन-जो-दडो' के सदर्भ मे उनका निष्कर्ष है "सिन्धुघाटी मे जैनो का व्यापक प्रभाव था, अत इससे सबन्धित प्रमाणो और जैन वाड्मयिक परम्पराओ की सूक्ष्मतर छानबीन की जानी चाहिये।"